

शब्दार्थ और निहितार्थ के बीच की नैतिकता

केन्द्र सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में हलफनामा दिया है कि दागी लोगों को मंत्रीपरिषद में लेने पर हमारे संविधान में किसी तरह की कोई मनाही नहीं है। हलफनामों में कहा गया है कि 'जब कोई सांसद बनता है तो उसका मंत्री बनने का अधिकार भी अपने आप ही स्वीकृत हो जाता है' और सांसद के लिए चुनाव लड़ने का अधिकार अदालती आरोपों के बावजूद बरकरार रहता है। अतः चुनाव जीतने पर मंत्री बनने का अधिकार भी अदालत में या अदालत से बाहर भ्रष्टाचार और अपराध के आरोपों के बावजूद बरकरार ही रहना चाहिये। सुनने में बात तो ठीक ही लगती है। जब तक आरोप सिद्ध नहीं हो जाता, आरोपी को दोषी कैसे माना जा सकता है? यही हमारी न्याय व्यवस्था का भी मूल सिद्धांत भी है कि अदालत में आरोप सिद्ध नहीं होने तक आरोपी को निर्दोष ही माना जाये। यदि मात्र आरोप लगने से किसी को दोषी मान लिया जाये तो कीचड़ उछाल राजनीति के वर्तमान माहौल में भले से भले आदमी के भी राजनीति में टिके रहने की संभावना खत्म हो जायेगी।

अदालत में दिये गये हलफनामों के पक्ष में इतने साफ तर्कों के बावजूद यह पढ़कर मुझे बार-बार "पायरेट्स ऑफ द कैरबियन" नाम की हॉलीवुड फिल्म का एक दृश्य याद आता है। यह फिल्म समुद्री डाकुओं के बारे में एक बेहद बचकानी और लचर कहानी पर आधारित है। जो दृश्य मुझे इस हलफनामे से याद आता है वह कुछ इस प्रकार है: समुद्री डाकुओं के एक जहाज पर नायक, उसका सहायक एक और समुद्री डाकू तथा नायिका कैद कर लिये गये। नायक और जहाज के डाकू कप्तान में एक समझौता हुआ। यह तो मुझे याद नहीं कि समझौते में नायक ने कप्तान के लिये क्या वादा किया और यह महत्वपूर्ण भी नहीं है। जो महत्वपूर्ण है वह यह कि डाकू कप्तान ने नायिका को छोड़ने का वादा किया। नायक के अपना वादा पूरा कर देने पर कप्तान ने जहाज के किनारे से एक तख्ता आगे बढ़ा दिया और बीच समुद्र में नायिका से कहा, "जाओ हमने तुम्हें छोड़ा"। इस पर नायक ने उसे अपना वादा याद दिलाया कि कप्तान ने इसको सुरक्षित छोड़ने को कहा था। समुद्री डाकू का जवाब था कि उसने केवल नायिका को छोड़ने का वादा किया था, कहीं भी सुरक्षित पहुंचाने का नहीं।

वास्तव में नायक और कप्तान की बात में सुरक्षित पहुंचाने का जिक्क कहीं भी नहीं आया था। अतः डाकू कप्तान शब्दशः तो बात ठीक ही कह रहा था। पर किसी भी सभ्य समाज में जो करार किये जाते हैं वे उस समाज में प्रचलित नैतिकता की पृष्ठभूमि में होते हैं। करार में हर बात विस्तार से नहीं लिखी जा सकती। नैतिकता के आम और सर्व स्वीकृत मानदण्ड बिना लिखे ही उस करार का हिस्सा मान लिये जाते हैं। यदि कोई अपने द्वारा किये गये करार को शब्दशः देखने लगे, और नैतिकता की जिस अलिखित पृष्ठभूमि में करार हुआ है उसे पूरी तरह से नकार दे, तो तार्किक दृष्टि से 'जिसे बहुत सारे लोग कुतर्क कहेंगे' अपने वायदे से मुकर कर भी करार को पूरा हुआ सिद्ध कर सकता है। "पायरेट्स ऑफ द कैरबियन" का डाकू सरदार भी यही कर रहा है। अपने करार को शब्दशः देखने मात्र से ही वह आपसी सहमति में नैतिक धरातल को खारिज कर रहा है और समुद्री डाकू समाज में स्वीकृत नैतिक धरातल को नकार कर ही तो समुद्र में उतरता है।

सवाल यह उठता है कि क्या सरकार भी अपने हलफनामों में ऐसा कुछ कर रही है? संविधान भी किसी समाज की नैतिक व राजनैतिक परंपराओं की पृष्ठभूमि में ही बनते हैं। यह ठीक है कि हजारों वर्षों से लिखित कानून बनते रहे हैं, और उन्हें तोड़ने वाले उनके अनचाहे अर्थ निकालने की कोशिश करते रहे हैं। अतः इस प्रवृत्ति से निपटने के लिए कानूनी भाषा में प्रावधान बनते गये हैं। संविधान में भी उसकी भावना के विपरीत व्याख्या न की जा सके इसके लिए दस्तावेज के भीतर ही कोशिशों की गई हैं। फिर भी संविधान को पढ़कर उसका अर्थ समझने वाले लोग जिस वक्त और जिस समाज में जी रहे होते हैं उसकी भाषा, नैतिक और राजनैतिक परंपराएं और आमजन की मानसिकता उसकी व्याख्या को प्रभावित करती है। ऐसा लगता है कि हम लोग सामाजिक और राजनैतिक तौर पर शब्दार्थ और निहितार्थ के बीच के धुंधलके में अनैतिकता को स्वीकार करने की मानसिकता में आ गये हैं। अब हमारे राजनेता हमें यह बताने लगे हैं

* यहां यह स्पष्ट कर दें कि वर्तमान कांग्रेस सरकार के पूर्व भाजपा सरकार से कम या अधिक भ्रष्ट होने की तरफ कोई इशारा नहीं है। मुझे पूरा भरोसा है कि भाजपा भी इसी तरह के तर्क खुल कर काम में ले सकती है।

कि यदि संविधान में यह स्पष्ट न लिखा हो कि आरोपी को मंत्री नहीं बनाया जा सकता तो यह मानना चाहिए कि उसे मंत्री बनाया जा सकता है। इसमें किसी अलिखित सामाजिक नैतिकता, किसी अलिखित परम्परा, सार्वजनिक व्यवहार में शुचिता के किन्हीं अलिखित मानदण्डों को बीच में नहीं आने देना चाहिये।

निहितार्थ और शब्दार्थ के बीच के इस धुंधलके को और अधिक काला और व्यापक करने के प्रयत्न राजनीतिज्ञ और उनके लिए जनमत बनाने वाले विचारक व लेखक लगातार करते रहे हैं। कुछ दिन पहले एक बहस चल रही थी कि जिन लोगों पर अदालत में मुकदमें चल रहे हैं, वे सभी एक ही प्रकार के आरोपी हैं। इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन पर आरोप किस तरह के अपराध के हैं। इस विषय में बार-बार तीन उदाहरण आ रहे थे; बाबरी मस्जिद को गिराने के षडयंत्र के आरोप, रांची में किसी आम सभा में जनता को भड़का कर हत्याएं करवाने के आरोप और सीधे अपहरण एवं फिरौती के लिए हत्याएं करवाने के आरोप। सभी अखबार एवं उनमें छाये रहने वाले लेखक तर्क दे रहे थे कि यदि एक तरह का आरोपी मंत्री रह सकता है तो दूसरी तरह का भी रह सकता है। अपराध तो अपराध है। सामाजिक नजर से इनमें कोई भेद नहीं। यह विचार की धुंध बढ़ाने वाला प्रचार है। क्योंकि एक जनतांत्रिक व्यवस्था में इन तीनों प्रकार के आरोपों में भेद करना जरूरी है। इन्हें एक तराजू में तौलना लोगों को धोखे के लिए तैयार करना ही कहा जा सकता है।

सवाल यह नहीं है कि कौन सा ज्यादा बड़े और अनिष्टकारी अपराध का आरोप है और कौन सा कम। सवाल यह भी नहीं है कि कौन सा आरोप सिद्ध होने के ज्यादा नजदीक है और कौन सा निराधार। ये दोनों ही प्रश्न महत्वपूर्ण हैं। इनका प्रभाव भी पड़ना चाहिये, पर आरोप के स्तर पर राजनैतिक प्रक्रिया के हिस्से के रूप में किये गये अपराध एवं व्यक्तिगत लाभ के लिये किये गये अपराधों में फर्क को मिटा देना खतरनाक होगा। इस फर्क को मिटाना अपराध जगत को राजनीति में आमंत्रित करना होगा। जो कि हम कर ही रहे हैं।

पहला उदाहरण कुछ ऐसे राजनीतिज्ञों का है जिन्होंने एक उग्र भीड़ को बाबरी मस्जिद के आस-पास कुछ प्रदर्शन और तथाकथित कार सेवा करने के लिए एकत्रित कर लिया और इस उग्र भीड़ ने बाबरी मस्जिद को ढहा दिया। दूसरा उदाहरण एक ऐसे राजनेता का है जिसने एक बड़ा आंदोलन चलाया। इस आंदोलन की भीड़ भी उग्र हो गई और उसने कुछ लोगों की हत्याएं कर दीं। तीसरा उदाहरण एक ऐसे राजनेता का है जिसने अपहरण कर फिरौती की रकम मांगी। सवाल यह उठता है कि यदि इन तीनों राजनेताओं पर मुकदमें चल रहे हैं तो क्या इन तीनों का अपराध एक जैसा ही है? इन तीनों परिस्थितियों में जो बात एक जैसी है वह यह है कि राजनेता दूसरे लोगों को कुछ करने के लिए उकसा रहे हैं और काम में ले रहे हैं। अतः जहां तक योजना बनाने व षडयंत्र करने का सवाल है, तीनों में ही यह संभावना है कि ऐसा किया हो। जहां तक अपराध कर्म को सीधे स्वयं करने का सवाल है तीनों ही राजनेताओं ने स्वयं ऐसा कोई काम नहीं किया। न तो बाबरी मस्जिद के आस-पास भीड़ जुटाने वालों ने स्वयं बाबरी मस्जिद को ढहाया, न ही रांची में आंदोलन करने वाले नेता ने स्वयं हत्याएं की और न ही फिरौती के लिए अपहरण करवाने वाले नेता ने स्वयं अपहरण किया। जैसा कि पहले कहा, अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि तीनों ने अन्य लोगों से ये काम करवाये। पर समानता यहीं समाप्त हो जाती है। आंदोलन करना और भीड़ जुटाना लोकतंत्र की एक आवश्यक प्रक्रिया है। यदि कोई नेता जान बूझ कर किसी अपराध कर्म के लिए भी भीड़ जुटाता है, तो भी उसके पास कम से कम एक तिनके की आड़ तो रहती ही है। वह कह सकता है कि यह तो जन आंदोलन था जिसमें लोग बेकाबू हो गये। यह ठीक है कि लोगों के बेकाबू होने की जिम्मेदारी भी आंदोलन के अगुआ नेताओं की ही होगी, पर यह एक राजनैतिक प्रक्रिया के बेकाबू होने का मसला होगा। लेकिन फिरौती के लिए अपहरण कराने वाले नेता के पास ऐसी कोई तिनके की आड़ भी नहीं होती। दूसरा फर्क यह है कि आंदोलन करवाने वाले नेता तथाकथित सार्वजनिक उद्देश्यों के लिए आंदोलन करवा रहे होते हैं। भीड़ इकट्ठी होना अपने आप में ही इस बात का प्रमाण है कि बहुत सारे लोग तथाकथित आंदोलन के कथित उद्देश्यों से सहमति जता रहे होते हैं। चाहे बहकावे में आकर ही ऐसा कर रहे हों, उन्हें अपराधियों का झुण्ड नहीं कह सकते। अतः परिणामस्वरूप भीड़ जो अपराध करती है वह, चाहे बाबरी मस्जिद जैसी किसी इमारत को ढहाना हो या निरपराध लोगों की हत्याओं जैसा कुकृत्य हो, किसी तरह के सामाजिक राजनैतिक बदलाव की इच्छा से या बदलाव को रोकने के प्रयत्न में हुआ। इसका यह आशय नहीं है कि यह अपराध कमतर है या इस तरह के राजनैतिक बदलाव उचित हैं। फिर भी लोगों को एकत्रित करने तक की स्थिति को तो राजनैतिक प्रक्रिया का एक हिस्सा

मानना ही पड़ेगा। निःसन्देह यह एक अस्वस्थ राजनैतिक प्रक्रिया का प्रमाण है। दूसरी तरफ़ फिरौती के लिये अपहरण को किसी भी तरह से किसी भी प्रकार की राजनैतिक प्रक्रियाओं से जोड़ना संभव नहीं है। इस अपराध का कोई राजनैतिक जवाब हो ही नहीं सकता। यह निजी लाभ के लिए किया गया एक शुद्ध अपराध है। इस मसले पर विचार करने पर हम इस बात के लिए तर्क कर सकते हैं कि आंदोलनों के चलते 'गलती से हुए' या 'जानबूझ कर किये गये' अपराधों का राजनैतिक जवाब देना भी आवश्यक है। और उन्हें पूरी तरह से कानूनी और व्यवस्था के अपराधों की तरह से नहीं देखा जा सकता। मजे की बात यह है कि जो जनमत निर्माता उपरोक्त तीनों अपराधों को एक ही तरह का मानने की वकालत करते हैं, वे भी राजनैतिक उद्देश्यों के लिए धर्म जैसे संकुचित आधारों पर चलाये जाने वाले आतंकवाद तक को भी फिरौती और भ्रष्टाचार जैसे अपराधों की श्रेणी में नहीं रखते। पर राजनैतिक आकाओं की जरूरत के मुताबिक उपरोक्त तीनों आरोपों को एक श्रेणी में रखने को तैयार होंगे।

अपराध और भ्रष्टाचार की विभिन्न श्रेणियों को एक जैसा मानने का आग्रह सभी राजनैतिक पार्टियों को रास आता है। क्योंकि चिंतन का यह तरीका शब्द और निहितार्थ के बीच के धुंधलके को और गहरा करता है और इसके दायरे को और फैलाता है। इसलिये मीडिया पर छाये रहने वाले सभी जनमत निर्माता, जो इन पार्टियों के चिंतन दलों के सदस्य होते हैं, चिंतन के इस तरीके की खामियों को उजागर कभी नहीं करते। यही वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा लोगों को इस बात के लिये तैयार किया जाता है कि वे आरोपी मंत्रियों के राज में भी सुख शान्ति से संतोषजनक जीवन व्यतीत करने की जुगाड़ करते रहें।

हाल ही में सरकारी स्कूलों में शैक्षिक सुधार की प्रायोजना बनाने के लिए एक बैठक चल रही थी। बैठक में दिल्ली विश्वविद्यालय के एक मित्र प्रोफेसर ने बताया कि सी.बी.एस.ई. में 10 वीं कक्षा के बच्चों से विज्ञान में कुछ प्रोजेक्ट्स करवाये जाते हैं। 'प्रोजेक्ट्स' का आशय यहां प्रायोगिक तौर पर कुछ बनाना भर है। उन्होंने बताया कि कोई भी बच्चा पढ़ कर, कल्पना करके या सामान खरीद के इस प्रोजेक्ट के तहत कुछ नहीं बनाता। बने बनाये मॉडल्स दिल्ली में कई जगह दुकानों पर उपलब्ध होते हैं। बच्चे उनमें अपनी पसंद का कोई मॉडल खरीद लाते हैं और अपना प्रोजेक्ट बता कर विद्यालय में जमा करा देते हैं। शिक्षकों को भी इस हकीकत की पूरी जानकारी रहती है। मेरी अपनी बेटी जिस विद्यालय में पढ़ती थी, जयपुर में, उस का भौतिकी का अध्यापक तो दुकान का पता भी कक्षा में ही बता देता था। फिर भी इन 'प्रोजेक्ट्स' के नम्बर मिलते हैं और अंक तालिका में शामिल किये जाते हैं। इसी प्रकार जहां-जहां बच्चों को विज्ञान में प्रयोग करने होते हैं वहां-वहां उनके शिक्षकगण प्रयोग के उद्देश्य काम में लिये जाने वाले उपकरणों की सूची, प्रयोग की विधि और प्रयोग के नतीजे स्वयं ही लिखवा देते हैं। बच्चे को प्रयोगशाला में जाने तक की जरूरत नहीं होती।

ये दो उदाहरण उन सैकड़ों तरीकों के उदाहरणों में से हैं जो शिक्षा व्यवस्था के माध्यम से धोखेबाजी और बेईमानी सिखाने के लिए काम में लिये जाते हैं। जिस शिक्षा व्यवस्था में करोड़ों बच्चे इन तरीकों के माध्यम से सही और गलत में फर्क करने को भूलकर अपने सीमित व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति में लगे रहते हैं, उसमें किसी तरह की राजनैतिक नैतिकता का क्या महत्व रह पायेगा? शब्दार्थ और निहितार्थ के बीच अनैतिक धुंधलके को लगातार गहरा और व्यापक करने का यह एक और तरीका है जिसको हमारे भारतीय समाज में पूरी तरह स्वीकृति हासिल है और हमारी औपचारिक शिक्षा पूरी शिद्दत से इसके प्रचार प्रसार में लगी है।

1947 में शिक्षा के लिए केन्द्रीय सलाहकार मंडल (सी.ए.बी.ई) की 13वीं बैठक को संबोधित करते हुए उस वक्त के बॉम्बे प्रोविंस के गवर्नर ने इस बात को रेखांकित किया कि जनतंत्र में लोगों को सोच विचार कर निर्णय लेना आना बहुत जरूरी है। यह नहीं माना जा सकता है कि बहुमत से होने वाले सभी निर्णय उचित ही होंगे। अतः लोगों को जनतंत्र के लिए तैयार करने की जरूरत पड़ती है। इस बैठक में गवर्नर महोदय ने इस बात का आग्रह किया है कि भारतीय शिक्षा व्यवस्था इस चुनौती को स्वीकार करे और लोगों को स्पष्ट चिंतन और उचित निर्णय करने के तरीके सिखाये। यह बैठक स्वतंत्रता मिलने से लगभग सात महीने पहले हुई थी। वैसे यह कोई बहुत नया विचार नहीं था। इससे पहले

और बाद में भी इस विचार की अनुगूँज शिक्षा और समाज पर चिंतन करने वाले लोगों के लेखन में खूब पायी जाती है। 1952 के मुदालियार कमीशन की रिपोर्ट भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था में शिक्षा की जिम्मेदारियों को बहुत गंभीरता से लेती है। इस रिपोर्ट में शिक्षा के उद्देश्यों का निरूपण ही प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने को ध्यान में रखकर किया गया है। यह कमीशन भी इस बात पर जोर देता है कि वैचारिक स्पष्टता और नैतिक मूल्यों की प्रतिबद्धता के अभाव में राजनेता लोगों को बहका सकते हैं। उन्हें झांसा देकर या भावनाओं को भड़का कर राजनीति को ऐसी दिशा दे सकते हैं, जो व्यापक हित के विरुद्ध हो और राजनैतिक पार्टियों के संकुचित हितों के पक्ष में हो।

इस प्रकार के और भी उदाहरण हमारे नीति संबंधी दस्तावेजों में बहुत मिल जायेंगे। विशेष रूप से स्वतंत्रता के तुरंत बाद। अर्थात् उस वक्त भारतीय प्रजातंत्र के रचयिताओं को शिक्षा से बहुत अपेक्षाएं थीं और शिक्षा व्यवस्था के लोग भी इस जिम्मेदारी को स्वीकार करते थे।

राजनीति के वर्तमान स्वरूप और इसमें चलने वाली बहसों के स्तर को देखते हुए यह बहुत साफ हो चुका है कि शिक्षा ने अपनी यह जिम्मेदारी भी पूरी नहीं की। यह तो आमतौर पर पहचाना जाता है, और कहा भी जाता है कि हमारी सरकारी शिक्षा व्यवस्था भारत के प्रत्येक बच्चे तक प्राथमिक शिक्षा नहीं पहुंचा पाई। यह भी आमतौर पर स्वीकारा जाता है कि शिक्षा लोगों को रोजगार दिलाने में और स्वावलम्बी जीवन जीने में भी मदद नहीं कर पाती। पर इस बात पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया है कि शिक्षा लोगों को जनतांत्रिक प्रक्रिया के लिये भी तैयार नहीं कर पायी। इसे हम शिक्षा व्यवस्था की विफलताओं की सूची में एक और आयाम के रूप में जोड़ सकते हैं

सवाल यह है कि क्या अब भी हम शिक्षा और जनतंत्र के बीच के रिश्ते की ठीक से पड़ताल करके शिक्षा के समक्ष उपस्थित होने वाली जनतंत्र की चुनौतियों को गंभीरता से ले सकते हैं ? यदि हमें शब्दार्थ और निहितार्थ के बीच के अनैतिक दायरे को कम करना है या उसके अंधेरे को कम गहरा बनाना है, तो शिक्षा को ये चुनौती स्वीकार करनी ही होगी। और शिक्षा के लिए जनतंत्र की चुनौतियों की यह शुरुआत ही होगी क्योंकि वर्तमान काल में सांस्कृतिक और धार्मिक वैविध्य को स्वीकारने जैसी और भी कई महत्वपूर्ण चुनौतियां शिक्षा के समक्ष हैं।

शिक्षा के बारे में एक और बात यह कही जाती है कि वह सदा ही आर्थिक परिस्थितियों से संचालित होती है। शिक्षा का सामाजिक व ऐतिहासिक विश्लेषण करने वाले लोग इस मान्यता को बहुत आग्रह के साथ रखते हैं। इस मान्यता का आशय यह है कि वे राजनैतिक और ऐतिहासिक ताकतें जो आर्थिक व्यवस्था के संचालन को निर्धारित करती हैं, शिक्षा को ऐसा कुछ भी नहीं करने देंगी जो वर्चस्वशाली लोगों के आर्थिक हितों के विरुद्ध हो। और हमारी राजनैतिक व्यवस्था में वर्चस्वशाली लोगों के आर्थिक हित विचार की धुंध में ही सुरक्षित रह सकते हैं। इसलिए हमारी शिक्षा व्यवस्था न तो साफ विचार करने की सामर्थ्य दे सकती है और न ही ऐसी नैतिकता के विकास में मदद कर सकती है जो भ्रष्टाचार और अपराध के विरुद्ध खड़े होने की ताकत दे।

बहुत संभव है कि इस तरह के विश्लेषण समाजशास्त्रीय दृष्टि से बहुत पुख्ता सिद्धांतों पर खड़े हों। लेकिन इस विश्लेषण को शिक्षक की नजर से देखते हैं तो यह एक नियतिवादी विश्लेषण लगने लगता है। एक ऐसे नियतिवाद के रूप में जहां सर्वशक्तिमान देवताओं का स्थान इतिहास व अर्थशास्त्र को दे दिया गया है। व्यक्ति और समाज के स्तर पर शैक्षिक प्रक्रिया के माध्यम से किसी भी प्रकार की पहल करने की गुंजाइश इस सिद्धांत में नहीं दिखती। अतः यदि शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक अन्याय, बढ़ते हुए अपराध, राजनैतिक मौकापरस्ती और भ्रष्टाचार की कलाई खोले तो इस सिद्धांत को सम्मानपूर्वक शक के दायरे में लाना ही होगा। इतिहास और अर्थतंत्र की प्रक्रियाओं की ताकत को स्वीकार भर करने से काम नहीं चलेगा। उन्हें समझना होगा और उनके जबड़ों के बीच में वह जगह ढूंढनी होगी जहां मानवीय चेतना अपनी सृजनात्मकता के बल पर स्वयं उसको बनाने वाली ताकतों से सवाल कर सकती है। यह ठीक है कि अकेली शिक्षा शब्द और निहितार्थ के बीच के इस अंधेरे दायरे को खत्म नहीं कर सकती। पर वह एक सार्थक प्रयास जरूर कर सकती है। ◆

रोहित धनकर

पुनः शिक्षा-विमर्श का यह अक्टूबर-नवम्बर, 03 का अंक एक वर्ष से भी अधिक देरी से दिसम्बर 2004 में प्रकाशित हो रहा है। इस अनियमितता का हमें खेद है। अब इसके बाद सीधा जनवरी-फरवरी 05 का अंक निकलेगा। हम आशा करते हैं कि आगे के अंक नियमित रूप से प्रकाशित हो सकेंगे।